अध्याय – 5
पाश्चात्य–दर्शन

(i) पाश्चात्य दर्शन का परिचय एवं दर्शन शास्त्र की शाखाऐं

(तत्वमीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा)

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। इसलिये विचारणा अथवा चिन्तन उसका अनिवार्य लक्षण है। अपनी इसी विलक्षण क्षमता के कारण प्रत्येक सामान्य मनुष्य प्रत्येक विषय के प्रति अपना विशेष दृष्टिकोण, मत अथवा विश्वास रखता है। यही विशेष दृष्टिकोण, मत एवं विश्वास जब तर्क के विश्लेषणात्मक आधार पर पुष्ट किया जाता है, तब दर्शन का जन्म होता है।

दर्शन का इतिहास बहुत प्राचीन है, किन्तु इसके स्वरूप और उसके विषयवस्तु के संबंध में कोई सर्वमान्य विचार उपलब्ध नहीं होते है। ऐसी मान्यता है कि दर्शन विश्व तथा जीवन को उनकी समग्रता में समझने का एक प्रयास है। यहॉ उसकी चर्चा भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों संदर्भों में करना अनुचित नहीं होगा।

भारतीय दार्शनिकों का मानना है कि ''दर्शन का कार्य ज्ञान के विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री का कुछ भी न छोड़ते हुए व्यवस्थित करना और उनको एक सत्य, एक सर्वोच्च, सार्वभौम सद्वस्तु से समुचित संबंध में रखना है।'' (श्री अरविंद)

दूसरी ओर ब्राइटमैन जैसे पाश्चात्य दार्शनिक का कहना है कि 'दर्शन अनुभव के विषय में निष्कर्षों का समूह न होकर मूलरूप से अनुभव के प्रति एक दृष्टिकोण या पद्धति है।'' उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि दर्शन का स्वरूप समन्वयात्मक (Synthetic) और समीक्षात्मक(Analytical) दोंनो है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन हो अथवा पाश्चात्य चिन्तन दोनों जगत एवं जीवन का अध्ययन उनकी समग्रता में करते है। चिन्तशील मनुष्य के समक्ष जब, जगत की उत्पत्ति कैसे हुई, इसकी उत्पत्ति के पीछे कौन–कौन से तत्त्वनिहित है? जगत एवं जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका कोई लक्ष्य है या नहीं और है, तो वह क्या है? मृत्यु जीवन का अन्त है या और भी कुछ? आदि मौलिक एवं आधारभूत प्रश्न उठते हैं, तो दर्शन का कार्य इन्हीं प्रश्नों का समग्रता से अध्ययन कर इनके उत्तरों की खोज करना है। समानार्थक प्रतीत होने वाले शब्द 'दर्शन' और फिलॉसोफी में भिन्न अर्थ रखते है। अंग्रेजी शब्द 'फिलॉसोफी' ग्रीक शब्द फिलॉस और 'सोफिया' से मिलकर बना है। जिसका अर्थ क्रमशः 'अनुराग या प्रेम' और ज्ञान (विवेक) है। इस प्रकार ज्ञान के प्रति अनुराग रखने को ही फिलॉसोफी कहते है (Love for wisdom) इससे यह स्पष्ट है कि दर्शन का उदय सम्पूर्ण जीवन और जगत संबंधी मूलभूत प्रश्नों के उत्तर संबंधी जिज्ञासा से होता है।

भारतीय संदर्भ में दर्शन का साधारण अर्थ, 'देखना' और दार्शनिक अर्थ 'साक्षात्कार' रूप में लिया जाता है। भारतीय दर्शन का प्रारंभ मात्र जिज्ञासा से नही बल्कि आध्यात्मिक असन्तोष अर्थात जीवन और जगत में व्याप्त असीम दुःख से छुटकारा पाने की भावना से हुआ है।

भारतीय दर्शन की पद्धति भी पाश्चात्य दर्शन की पद्धति से भिन्नता रखती हैं। पाश्चात्य दर्शन की पद्धति मुख्यतः बौद्धिक है। जिसमें तर्क–वितर्क, विचार–विमर्श द्वारा जीवन और जगत के मौलिक स्वरूप को समझने की चेष्टा की जाती है, जबकि भारतीय दर्शन बौद्धिकता के साथ–साथ साक्षात्कार पद्धति को भी स्वीकार करती है।

पाश्चात्य दर्शन में मुख्यतः बुद्धि को दार्शनिक अध्ययन का आधार माना हैं बुद्धि का मुख्य आदर्श संगति है। इसलिये पाश्चात्य दार्शनिक अनुभव संबंधी कुछ आधारभूत बातों से प्रारंभ कर, बुद्धि और तर्क के द्वारा एक संगत तंत्र (Consistent of System) की स्थापना करता है।

यहा प्रश्न यह उठता है कि जीवन और जगत की विभिन्न समस्याओं के संबंध में विज्ञान भी बौद्धिक पद्धति का अनुसरणकर समाधान करता है तो दर्शन के कार्य का क्या औचित्य रह जाता है?

वस्तुतः विज्ञान जगत के अलग–अलग विभागों तथा मानव जीवन के अलग–अलग पहलुओं का अध्ययन अलग–अलग रूप में करता है। इसलिये भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, अर्थ विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, राजनीति विज्ञान आदि कई प्रकार के विज्ञान हमारे सामने आते है। दर्शन का कार्य, जीवन और जगत के भिन्न–भिन्न पक्षों के इन भिन्न–भिन्न वैज्ञानिक अध्ययनों का समग्रता से अध्ययन करना है। यह समग्रता इन अध्ययनों का योगफल नही समझी जानी चाहिए।

भारतीय दर्शन में साक्षात् अनुभूति को दर्शन का आधार माना जाता हैं। इसलिये यहाँ इन्द्रियात्मक अनुभव के अतिरिक्त अन्तःप्रज्ञात्मक या रहस्यात्मक अनुभूति (Intuitive or mystical experience) को भी स्वीकार किया गया। इस अनुभूति को व्यवस्थित रूप में दूसरों तक पहुॅचाने के लिये बुद्धि

और तर्क की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु, दार्शनिक ज्ञान अपने मौलिक रूप से अन्तः प्रज्ञात्मक अनुभूति (रहस्यात्मक अनुभूति) द्वारा ही संभव है।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् दार्शनिक कार्य और उनके द्वारा अपनाई गई पद्धतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। वैज्ञानिक प्रवृति रखने वाले कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने यह अनुभव किया कि जीवन और जगत संबंधी मौलिक प्रश्नों का उत्तर बौद्धिक चिन्तन द्वारा देने में दार्शनिक असफल रहे हैं। तथ्यात्मक जगत की खोज वैज्ञानिक ज्ञान का विषय है, अतः दर्शन का कार्य विज्ञानों से संबंधित अवधारणाओं का ही विश्लेषण करना है क्योंकि इन अवधारणाओं की इन्द्रियात्मक एवं बौद्धिक परीक्षण सम्भव है। तत्वमीमांसा, धर्म और नीतिमीमांसा आदि के वाक्य निरर्थक है क्योंकि इनके वाक्य तथ्यात्मक (Factual) नहीं होते हैं और न ही इन्हें इन्द्रियानुभव द्वारा सत्यापित कर उनके अर्थ को स्पष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार के विचारधारा को तार्किक अनुभववादी (Logical Empericism) कहा जाता है। इस मत के अनुसार वे ही वाक्य सार्थक कहे जा सकते है, जो इन्द्रियानुभव द्वारा सत्यापित हो सकते थे। ऐसे वाक्य केवल वाक्य केवल वैज्ञानिक वाक्य, पद, अवधारणाऐं ही हो सकते है। अतः दर्शन मात्र विज्ञानों का एक व्याकरण (Grammar of Science) बनकर रह गया।

किन्तु कालान्तर में दर्शन को सभी विज्ञानों के अतिरिक्त तत्वमीमांसा, धर्म, समाजशास्त्र, गणित, विधि, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों में प्रयुक्त भाषाओं का विश्लेषणात्मक कार्य दिया गया। दर्शन अब एक पद्धति ;डमजीवकद्धके स्वरूप में विकसित हुई। दर्शन का विस्तार इस रूप में, विज्ञान दर्शन विधि दर्शन, इतिहास दर्शन, नीति दर्शन, धर्म दर्शन, शिक्षा दर्शन, आदि रूप में विकसित होने लगा। इसीलिये दर्शन को सभी विज्ञानों की मॉ कहा जाना लगा।

दर्शनशास्त्र की शाखाऐं (अध्ययन क्षेत्र)

दर्शन अपने पारम्परिक स्वरूप में सम्पूर्ण जगत एवं सम्पूर्ण जीवन का व्यापक अध्ययन करता है। जगत और जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नही जो दार्शनिक चिन्तन से बाहर हो, जैसा कि दार्शनिक केयर्ड ने अपनी पुस्तक Philosophy of Relegion (P.3.) में कहा है –"There is no province of human experience, there is nothing in the hole realm of reality, which lies beyond the domain of philosophy, of to which philosophical envestigation does not exctend."

वास्तव में दर्शन जगत एवं जीवन के आधारभूत सामान्य पहलुओं और उससे जुड़े प्रश्नों के समाधान की खोज करता है। दार्शनिक खोज अलग–अलग विषय वस्तु के आधार पर निम्न प्रकार से विभाजित की जा सकती है–

1. तत्वज्ञान या तत्वमीमांसा (Ontology or Metaphycics) : दर्शन की वह शाखा जिसके अन्तर्गत जगत के मूल तत्वों, उनके स्वरूप पर चिन्तन किया जाता है, उसे तत्त्वमीमांसा या तत्त्वज्ञान कहा जाता है। इस शाखा के चिन्तन के प्रमुख प्रश्न है – जगत की उत्पति के पीछे मूल तत्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है, वह एक है या अनेक वह जड़ है या चेतन, जगत की उत्पति एकाएक हुई या वह लम्बे विकासक्रम का परिणाम है? जगत का अपने मूल तत्व से क्या संबंध है? आदि। इनसे संबंधित चर्चा बाद में की जायेगी।

2. ज्ञानमीमांसा (Epistemology) : दर्शनशास्त्र की वह शाखा जिसके अन्तर्गत ज्ञान किसे कहते है? यह कैसे संभव होता है? इसके कौर–कौन से साधन है? ज्ञान की सीमाऐं क्या है? किसी ज्ञान की प्रामाणिकता कैसे निश्चित होती है? ज्ञाता और ज्ञेय अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने वाले और ज्ञान के विषय में बीच क्या संबंध है? आदि विषयों पर चिन्तन किया जाता है। इस शाखा की विस्तार से व्याख्या बाद में की जायेगी।

3. तर्क शास्त्रीय समस्याऐं (Logic) : इस शाखा के अन्तर्गत विचार क्या है? बाह्य जगत से उसका क्या संबंध है? चिन्तन की स्वाभाविक विधियां, परिभाषा, परिकल्पना, विभाजन आदि की व्याख्या करना है। इसे तर्कशास्त्र कहा जाता है।

4. शब्द विज्ञान : यह भाषा के अर्थ का विज्ञान है। इसके अन्तर्गत भाषा में पाये जाने वाले शब्दों, प्रतीकों, चिन्हों और संकेतों आदि के कार्यो का विश्लेषण किया जाता है। तार्किक भाववाद (Logical Posilivism) इसी समस्या को दर्शन की मुख्य समस्या मानते है। क्योंकि इनकी मान्यता हैं कि इन्यानुभव द्वारा तत्वभीमांसीय तथ्यों का ज्ञान संभव ही नही है। इसलिये दर्शन का कार्य विभिन्न विज्ञानों एवं सामाजिक विज्ञानों एवं धर्म आदि में प्रयुक्त पदों और भाषा का विश्लेषण करना मात्र है।

5. विज्ञान दर्शन (Philosophy of Science) : दर्शन के इस क्षेत्र के अन्तर्गत विज्ञानों द्वारा मान्य कारण कार्य के नियम, वैज्ञानिक विधियों की समीक्षा तथा उनकी वैद्य और अवैद्य/अप्रामाणिक स्थितियों को स्पष्ट किया जाता है।

6. मूल्य शास्त्र (Axiology) : दर्शन का मूल्य से घनिष्ट संबंध है। इसके अन्तर्गत मूल्य क्या है, इनके कितने प्रकार है? परममूल्य क्या है? आदि प्रश्नों पर चिन्तन किया जाता है। इसकी प्रमुख दो शाखाऐं है–

(अ) नीतिशास्त्र (Ethics)

(ब) सौन्दर्य शास्त्र (Asthetics)

(अ) नीतिशास्त्र– इसके अन्तर्गत शुभ–अशुभ, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, संकल्प स्वातन्त्र्य अर्थात क्या मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता है? या सब पूर्व निर्धारित है? अपने कर्मों के

प्रति मनुष्य कब, कैसे और कहॉ तक उत्तरदायी है? हमारे नैतिक निर्णय के विषय क्या है? आदि प्रश्नों पर चिन्तन किया जाता है।

(ब) सौन्दर्य शास्त्र– सौन्दर्य शास्त्र की सौन्दर्य की दार्शनिक विवेचना करता है। कला, सौन्दर्य की सृष्टि करती है। कला क्या है? सौन्दर्य आत्मगत है अर्थात् व्यक्ति विशेष की अनुभूतिद्वारा उत्पन्न होती है? अथवा वस्तुगत् अर्थात् कलात्मक अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्यत्मक गुण विद्यमान रहते है? कला की कसौटी क्या है? ये सभी सौन्दर्य शास्त्र से संबंधित प्रश्न है।

7.धर्म दर्शन (Philosophy of Religion) : धर्म दर्शन, धर्म के क्षेत्र से संबंधित समस्याओं को उठता है। जैसे धर्म का अर्थ, धर्म का मूल तत्व, धर्म का नीति एवं आध्यात्म से संबंध, ईश्वर का अस्तित्व एवं स्वरूप, अशुभ की सत्ता आदि समस्याओं पर विश्लेषणात्मक चिंतन करता है।

8.विभिन्न समाज विज्ञानों की दार्शनिक समस्याऐं : शिक्षा, समाज शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, विधि आदि सामाजिक विज्ञानों में उठने वाली दार्शनिक समस्याओं की विवेचना करना भी दर्शन का महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसलिये उपरोक्त विज्ञानों से संबंधित दर्शन, शिक्षा दर्शन, राजनीति दर्शन, इतिहास दर्शन, समाज दर्शन, विधि दर्शन आदि कहलाते है।

आधुनिक दर्शन सभी विज्ञानों मे निहित अवधारणाओं, पदों, वाक्यों, युक्तियों आदि का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। अतः दर्शन के अन्वेष्णात्मक विषय, सर्वग्राही एवं विस्तृत है।

अब हम दर्शन की मुख्य शाखाओं तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की चर्चा करेंगे।

तत्त्व मीमांसा (Metaphysics) – जैसा कि पिछली चर्चा में हमने देखा कि तत्वभीमांसीय चिन्तन जगत के अन्तिम तत्वों उनके स्वरूप, उनकी संख्या, जगत की उत्पति एवं जगत और उन तत्वों के संबंध से जुड़ी हुई है। पाश्चात्य जगत में, तत्व विज्ञान विश्व विज्ञान एवं ईश्वर विज्ञान को व्यापक अर्थ में तत्वमीमांसा के अन्तर्गत रखा जाता है। इनसे संबंधित कुछ प्रमुख विचारधाराओं की चर्चा करना आवश्यक है–

(अ) तत्व विज्ञान संबंधी धारणाऐं– पाश्चातय दर्शन में तत्त्व या सत्ता का अर्थ वर्ण द्रव्य शब्द द्वारा अथवा अनित्य और परिवर्तनों का नित्य तथा शाश्वत् आधार व अधिष्ठान के रूप में किया गया है। इस प्रकार परमसत्ता की दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन में प्रमुख रूप से निम्न विचार धाराऐं प्रचलित हैं–

(अ) एक तत्ववाद Monoism

(ब) द्वैतवाद Dualism

(स) बहुतत्ववाद Pluralism

(अ) एकतत्ववाद– इस सिद्धान्त के अनुसार जगत की सभी चेतन और अचेतन तत्व का आधार तत्व एक है और उसी से सबकी उत्पत्ति हुई है। यह एक तत्व केवल जड़ भी हो सकता है और केवल चेतन भी हो सकता है अथवा तठस्थ।

1. भौतिकवाद (जड़वादी एकवाद)– सत्ताशास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार जगत का अन्तिम या परम सत्ता एक मात्र जड़ है। जड़तत्व से ही जड़ और चेतन तत्व की उत्पत्ति हुई है।

2.विज्ञानवाद– सत्ता शास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार जगत का परम सत या तत्व आध्यात्मिक या चेतन है। इस मत को प्रत्ययवाद भी कहते है।

(ब) द्वैतवाद– सत्ताशास्त्र में इस सिद्धान्त के अनुसार जगत में दो परस्पर विरोधी गुण वाले परम तत्व दृष्टिगोचर होते है– जड़तत्व और मनस तत्व (चेतन)। अतः इस मत के अनुसार अन्तिम तत्व दो है – शरीर (जड़ तत्व) और मनस (चेतन) तत्व।

(स) बहुतत्ववादी– सत्ताशास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार जगत अनेक तत्वों से बना हैं। प्रत्येक जीव और प्रत्येक वस्तु अन्य से भिन्न और स्वतन्त्र सत्ता रखती है। सत्ता के स्वरूप की दृष्टि से यहॉ भी ध्यान देने वाली बात यह है कि बहुतत्ववादी मत जड़वादी भी हो सकते है, अथवा आध्यात्मवादी (चेतन) भी हो सकते है तत्वमीमांसा की एक महत्वपूर्ण समस्या यह भी रही है कि जगत की उत्पत्ति एकाएक, एक ही बार में हो गयी है या कई हजारों वर्षो के क्रमिक परिवर्तनों और विकास के परिणाम स्वरूप। इस संबंध में प्रमुख रूप से दो सिद्धान्त सम्मुख आते है –

(अ) सृष्टिवाद (Reationism)

(ब) विकासवाद (Evolutionism)

(अ) सृष्टिवाद– सृष्टिवाद के अनुसार जगत अपने स्वरूप जैसा आज है, उसी रूप मे उसकी सृष्टि एक ही बार हुई है। जगत का सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है।

(ब) विकासवाद– विकासवाद के अनुसार जगत का वर्तमान स्वरूप अनेकों वर्षो के क्रमिक विकास का परिणाम है।

तत्वमीमांसा चर्चा में जगत की उत्पत्ति के साथ, ईश्वर के अस्तित्व का चिन्तन अवश्य जुड़ा हुआ है। ईश्वर संख्या में एक है या अनेक इसके संबंध में दो धारणाऐं प्रचलित है–

(अ) अनेकेश्वरवाद (Polithism)

(ब) ऐकेश्वरवाद (Monotheism)

(अ) अनेकेश्वरवाद– अनेकेश्वरवाद वह सिद्धान्त है, जो जगत के अधिष्ठाता, शासनकर्त्ता, पालनकर्त्ता आदि के रूप में एक नही बल्कि अनेको ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते है।

(ब) ऐकेश्वरवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही ईश्वर जगत का अधिष्ठाता है। जो अनंत सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ है–

इस सिद्धान्त के पुनः भेद है–

(1) तटस्थ ईश्वरवाद (Deism)

(2) सर्वेश्वरवाद (Pantheism)

(3) ईश्वरवाद (Theism)

(4) आन्तरातीत ईश्वरवाद (Pahentheism)

(1) तटस्थ ईश्वरवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण (साकार), चेतन, निरपेक्ष, पूर्णतया शाश्वत (नित्य) सत्ता है। यही एक निश्चित समय में जगत की सृष्टि करता है। तत्पश्चात् जगत की क्रियाओं में हस्तक्षेप नही करता।

(2) सर्वेश्वरवाद– सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर निराकार और व्यक्तित्वहीन (निराकार) और सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। ईश्वर ही जगत है और जगत ही ईश्वर है।

(3) ईश्वरवाद– इस विचारधारा के अनुसार ईश्वर जगत में व्याप्त भी है और जगत से परे भी है। जगत में रहकर वह इसका पालन भी करता है।

(4) आन्तरातीत ईश्वरवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार सब कुछ ईश्वर में है। 'PAN' = ALL 'en' = in तथा Theos = God

ज्ञानमीमांसा (Epistemology)

ज्ञानभीमांसीय समस्याओं की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है अतः यहॉ ज्ञानभीमांसीय विभिन्न धारणाओं की चर्चा की जा रही है–

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान प्राप्ती के साधन या स्त्रोत की चर्चा तीन प्रकार से की गई है –

(अ) बुद्धिवाद (Rationalism)

(ब) अनुभववाद (Empiricism)

(स) समीक्षावाद (Criticism)

(अ) बुद्धिवाद– वह ज्ञानभीमांसीय सिद्धान्त जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान का एक मात्र साधन बुद्धि है।

(ब) अनुभववाद– वह ज्ञानभीमांसीय सिद्धान्त जिसके अनुसार ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रियानुभूति है।

(स) समीक्षावाद– समीक्षावाद व ज्ञानभीसांसीय सिद्धान्त है जो ज्ञान की प्राप्ती केवल बुद्धि या केवल इन्द्रिय अनुभव से नहीं होती बल्कि बुद्धि एवं अनुभव दोनों के सहयोग प्राप्त होता है।

ज्ञान के तीन पक्ष होते है– ज्ञाता (जानने वाला/ज्ञान प्राप्त करने वाला, ज्ञेय (ज्ञान का विषय), ज्ञान (विषय संबंधी ज्ञान)। ज्ञानमीमांसीय समस्याओं में ज्ञाता एवं ज्ञेय के संबंध की समस्या महत्वपूर्ण है। इस संबंध में मुख्य धाराऐं निम्न है–

(अ) प्रत्ययवाद (Idealism)– प्रत्ययवाद के अनुसार ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र नहीं बल्कि उसका (पदार्थ) का अस्तित्व ज्ञाता पर ही निर्भर करता है। ज्ञाता से संबंधित होने पर ही ज्ञेय का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है।

(ब) वस्तुवाद/वास्तववाद (Realism)– इस मत के अनुसार ज्ञेय (पदार्थ) ज्ञाता के अस्तित्व पर निर्भर नहीं बल्कि इसका अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र है।

सत्य सम्बंधी सिद्धान्त ज्ञानमीमांसीय शाखा में इसी प्रकार एक महत्वपूर्ण समस्या, ज्ञान की सत्यता के संबंध भी उठती है। इसके अन्तर्गत किसी ज्ञान को सत्य कहने का आधार या अर्थ क्या है, तथा कोई ज्ञान सत्य है या असत्य इसकी जॉच (परीक्षण) कैसे संभव है? आदि समस्याऐं सम्मुख आती है। इन प्रश्नों से संबंधित तीन सिद्धान्त प्रचलित है।

1. संसक्तता (सामन्जस्य) सिद्धान्त (Coherence theory of truth)– इस सिद्धान्त के अनुसार किसी निर्णय के सत्यासत्य की कसौटी उसका विषय या तथ्य से सामन्जस्य रखना है तथा तार्किक सामन्जस्य रखना है। जिसमें आत्म विरोध का अभाव हैं। जैसे :– एक ही वस्तु एक ही स्थान एवं समय पर सफेद और काली दोनो है। यह ज्ञान आत्म–विरोधी है। अतः असत्य है।

2. अनुकूलतावाद– इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य की कसौटी वस्तु से अनुकूलता है। जैसे दूर से दिखने वाला पानी पानी ही होता वह ज्ञानसत्य, यदि बालू हो तो असत्य।

3. व्यवरहारवादी सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य की कसौटी उपयोगिता एवं उसकी मानव द्वारा व्याख्या पर निर्भर है।

4. स्वतः प्रामाण्यवाद– इस सिद्धान्त के अनुसार बौद्धिक दृष्टि से जो धारणा सहज, सरल और स्पष्ट अनुभूत होते है, वे संदेह से परे एवं स्वतः सिद्ध सत्य होते है। जैसे– त्रिभुज की परिभाषा।

वर्तमान जीवन में दर्शन शास्त्र की महत्ता (Utility of Philosophy in morden life)

वर्तमान मानव–जीवन, भौतिक सुख साधनों एवं अपनी मूलभूत आवश्यकताओं यथा– रोटी, कपड़ा, मकान आदि समस्याओं में इतना उलझ गया है कि प्रत्येक वस्तु के प्रति उसका मापदण्ड उससे प्रति आर्थिक लाभ पर टिका हुआ है। अधिक से अधिक धनोपार्जन के लक्ष्य के सम्मुख, ईश्वर आत्मा,

पुनर्जन्म, नैतिकता, बौद्धिक उच्चत्तर ज्ञान, जैसे विषयों की क्या सार्थकता रह जाती हैं। इसीलिये विद्याथियों एवं जन मानस इस विषय को अव्यवहारिक, अनुपयोगी एवं अनुपयुक्त विषय के रूप में स्वीकार करते है।

वास्तव में प्रश्न यह है कि हम मनुष्य जीवन से क्या अभिप्राय रखते है? जीवन तो पशु भी जीता है। उसकी भी भौतिक आवश्यकताऐं होती है। क्या मानव जीवन, पशुजीवन के समान ही है? ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने बताया कि मनुष्य जीवन के दो पक्ष है :–पशुत्व तथा विचारशीलता। इनमें दूसरा ही प्रधान है। विचारणा ही मनुष्य में पाया जाने वाला वह गुण है, जो उसे पशु से भिन्न करता है। यदि मनुष्य को सार्थक जीवन की प्राप्ति करनी हैं, तो विचारणा को विकसित करना ही पड़ेगा। अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप (बौद्धिक) को जब तक वह जान नहीं लेता, परिवार, समाज एवं राष्ट्र में उसका क्या स्थान हैं? उसके कर्त्तव्य क्या है? इसका बोध नही कर लेता, जीवन एवं जगत के प्रति अपना एक दृष्टिकोण विकसित नहीं कर लेता, तब तक उसका जीवन सार्थक नही बन सकता। इन सभी पक्षों का बोध दर्शन द्वारा ही संभव है। वास्तविकता तो यह है कि दर्शन जीवन ओर उसकी सभी समस्याओं से अनिवार्य रूप से जुड़ी हैं। दर्शन का अध्ययन करें अथवा नहीं, हमारी चिन्तनशीलता हमें दार्शनिक बनने पर विवश करेंगी। इसमें चयन का कोई स्थान नही है। चिन्तन हमारा स्वभाव है। यदि हम इस पक्ष की अवेहलना करते है, तो हम मनुष्य कहलाने के अधिकारी नही। जैसा कि कनिंधम ने अपनी पुस्तक में कहा है –

"Philosophy grows directly out of life and its needs every one who lives, if he lives at all reflectively, is in some degree a philosopher."

दर्शन के विरूद्ध ये विचार, भी सम्मुख आते है कि दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिये परिकल्पनात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है, उससे इन्द्रियाँतीत तथ्यों ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि का समाधान इन विधियों से संभव नही। तार्किक भाववादी के दार्शनिक भी इन्द्रियाँतीत विषयों का ज्ञान असंभव और तत्त्वमीमांसा को निरर्थक मानते थे। किन्तु ऐसी धारणा उचित नही है। दर्शन केवल परिकल्पना पर ही आधारित नही, साधारण अनुभव, रहस्यात्मक अनुभव, बुद्धि एवं तर्क आदि का भी सहारा लेता है। इतिहास साक्षी है कि दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण पूर्व कल्पनाऐं विज्ञान को प्रदान की गई। जो विज्ञान में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को आधार बनीं। जैसे भौतिक परमाणु वाद, वनस्पति विज्ञान और जीव विज्ञान में विकासवाद का प्रभाव। आज भौतिक शास्त्र अपने उच्चतर स्तर पर परिकल्पनात्मक दर्शन का ही रूप ले चुका है। वैज्ञानिक रसेल एवं आइन्सटाइन आदि उच्चस्तर के दार्शनिक भी रहे है। वास्तव में दार्शनिक चिन्तन और अध्ययन कितना प्रभावकारी एवं उपादेयता रखता है, यह इसी बात से भलीभाँति प्रमाणिक होता है कि बड़े–बड़े सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक, धार्मिक परिवर्तन के पीछे दार्शनिक चिन्तन ही क्रियाशील रहती है मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने न केवल आर्थिक धारणाओं में बल्कि राजनैतिक अवधारणाओं को भी पलट कर रख दिया। समाज पर दार्शनिक चिन्तन ने कई रूढ़िगत परम्पराओं और धार्मिक क्षेत्रों के आडम्बरों को समाप्त कर दिखाया।

यह कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं कि दार्शनिक चिन्तन न केवल मनुष्य की बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करने में सक्षम है वरन् मनुष्य को मनुष्य बनाऐं रखने में भी उसका बहुत बड़ा योगदान है। नीतिशास्त्र एवं मूल्यशास्त्र मनुष्य को आदर्श, सच्चा मनुष्य बनने में सहायक होता है।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक चिन्तन हमारा स्वभाव होना चाहिये, किन्तु केवल बौद्धिक सन्तुष्टि मात्र के लिये नहीं बल्कि जीवन के सर्वांग क्रियाओं में प्रकट होना चाहिये जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा, ''फिर भी एक बार ज्ञात हुआ सत्य हमारी अन्तरात्मा और हमारी बाह्य क्रियाओं में उतारने योग्य होना चाहिये। यदि ऐसा नही है तो उसका सर्वांग नही केवल बौद्धिक महत्त्व हो सकता है।''

(2) सुकरात एवं प्लेटो :

सुकरात

सुकरात एक युनानी दार्शनिक थे। प्लेटो, सुकरात के शिष्य और अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे। सुकरात ने यूनानी दर्शन को एक नई धारा प्रदान की। सुकरात ने अपने दार्शनिक विचारों को कोई भाषायी रूप प्रदान नहीं किया था। लेकिन इनके शिष्य प्लेटो, जेनोफन (Xenophon) और अरस्तू की कृतियों में उनके दार्शनिक विचार उपलब्ध होते हैं। प्लेटो के 'एपोलाजी', प्लेटो के संवादों एवं फीडो में सुकरात के अधिकांश दार्शनिक विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

सुकरात ने मानव के नैतिक पक्ष एवं ज्ञान पर विशेष बल दिया। ज्ञान जीवन का परम लक्ष्य है। सुकरात ज्ञान के अन्वेषक थे, क्योंकि उनका विचार था कि ज्ञाान ही सद्गुण है और सद्गुण ही ज्ञान है। उनके मत में प्रत्येक व्यक्ति 'सुख' चाहता है और सुख 'शुभकर्मो' पर आधारित है, 'शुभकर्मो' के लिये 'शुभ' का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान शुभकर्मो का सार है। अतः ज्ञान ही सद्गुण है।

सुकरात की दार्शनिक समस्या

प्रत्येक दार्शनिक के समक्ष उसके पूर्व एवं समकालीन विचारधाराऐं कुछ प्रश्न एवं जिज्ञासाऐं उत्पन्न करती है। सुकरात की दार्शनिक समस्या को भी उनसे पूर्व और समकालीन दार्शनिक परिवेश में ही समझा जा सकता है।

सुकरात का जन्म यूनान के इतिहास में एक ऐसे युग में

हुआ जब सोफिस्ट मत का प्रचलन था। सोफिस्ट मत के समर्थक प्रोटेगोरस थे। ज्ञान, सत्य के सम्बंध में सोफिस्ट के प्रमुख विचार निम्न हैः–

(i) इन्द्रियॉ ही ज्ञान का अन्तिम स्त्रोत है।

(ii) सत्य और असत्य में कोई भेद नहीं है।

(iii) सत्य परिवर्तन शील है।

(iv) मनुष्य सभी वस्तुओं का माप दण्ड है।

इस प्रकार सत्य, व्यक्ति सापेक्ष (निर्भर), परिवर्तनशील और अनेक माने जाने लगे। 'सत्य' का कोई वस्तुनिष्ठ मापदण्ड नहीं रहा। उसी तरह व्यक्ति को एक मात्र निर्णायक मान लेने पर, रीति रिवजों, नैतिक मान्यताओं एवं परम्पराओं के सम्बंध में भी किसी सामान्य वस्तुनिष्ठ मानदण्ड का निषेध किया।

सुकरात के समक्ष मुख्य प्रश्न सोफिस्टो की चुनौती का सामना करना था। जिन्होंने अपने कुतर्कों द्वारा "ज्ञान" और "नैतिकता" की जड़े ही बिल्कुल हिलादी। संशयवाद के पूर्ण समर्थन से उच्छेदवाद (उदण्ड स्वतन्त्रता) को प्रश्रय मिलता है। सुकरात ने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि ज्ञान, नैतिकता और राजनीति के क्षेत्र में जो उसके चारो ओर बैद्विक अराजकता फैली हुई, उसका एक मात्र कारण 'सत्य' और 'ज्ञान' के स्वरूप को ठीक प्रकार न समझना है। अतः 'ज्ञान' की समस्या का उचित समाधान ढूढ़ना उनके दर्शन का प्रथम उद्देश्य है। परन्तु 'ज्ञान' में सुकरात की अभिरूचि केवल बौद्धिक क्रिड़ा नही बल्कि उनका उद्देश्य लोगो में 'ज्ञान' के प्रति निष्ठा उत्पन्न कर उन्हें सदगुणी बनाया था। उसका लक्ष्य मनुष्यों को 'ज्ञान' देना नही, वरन् 'ज्ञानी' बनाना था।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम सुकरात सोफिस्ट विचारधारा का खण्डन करते है। सुकरात के अनुसारः–

(i) ज्ञान का अन्तिम स्त्रोत इन्द्रियाँ नहीं, बुद्धि है। इन्द्रियों द्वारा भ्रमजनित ज्ञान भी उत्पन्न होता है। जैसे–तारे टिमटिमाते हुए दिखते है, पानी में पड़ी लकड़ी टेढ़ी नजर आती है, आदि।

दूसरी ओर इन्द्रियों को ज्ञान का अन्तिम स्त्रोत मान लेने पर, पशुज्ञान और मनुष्य ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। पशुओं के ज्ञान में उचित–अनुचित का भेद नही होता जबकि मनुष्य में विवेक द्वारा यह भेद करने की क्षमता होती है।

(ii) सत्य व्यक्ति सापेक्ष नहीं होता, बल्कि वस्तुनिष्ठ होता है। दूसरे शब्दों में यदि सत्य को व्यक्तिगत निर्णय पर निर्भरकर दे तो एक का सत्य दूसरे व्यक्ति के लिये असत्य हो जायेगा, सत्य क्षणिक एवं अनेक एवं परिवर्तनशील हो जायेगा। 'सत्य बोलना चाहिये', 'सभी मनुष्य मरणशील है', ऐसे ही कई कथन व्यक्ति के आधार पर बदलते रहते। जबकि वास्तविकता यह है कि सत्य विशेष और परिस्थिति विशेष द्वारा नही बदले जा सकते। वे किसी पर निर्भर नही होते है। इसलिये सत्य परिवर्तनशील एवं विशेष नही सामान्य एवं अपरिवर्तनशील होते है।

(iii) सुकरात एक तर्क के द्वारा सोफिस्टों के विरूद्ध कहते है कि एक व्यक्ति रूप मे, मेरा (सुकरात का) कथन है कि सोफिस्टों का यह मत गलत है यदि सोफिस्ट मेरे कथन को गलत सिद्ध करते है तो उनका स्वयं का सिद्धान्त (मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है) गलत सिद्धान्त के अनुसार सत्य मापते हैं तो भी इनका सिद्धान्त गलत सिद्ध होता है।

इस प्रकार सुकरात के अनुसार सत्य, निरपेक्ष, सामान्य, अपरिवर्तनशील एवं बौद्धिक होता है। अपनी इसी दृष्टिकोण अथवा लक्ष्य को स्थापित करने के लिये सुकरात एक विशिष्ट पद्धति का आविष्कार किया जो सुकरातीय पद्धति के नाम से विख्यात हुआ।

सुकरात की पद्धति (Socrates Method)

सुकरात का उद्देश्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना करना नही था। सुकरात की विचारधारा लोगों में केवल आत्मज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा जागृत करना चाहते थे। सोफिस्टों के विरूद्ध वे एक स्वयं सिद्ध, सहज और सार्वभौम सत्य (ज्ञान) की स्थापना करना चाहते थे। यही सुकरात के दर्शन का प्रारम्भ बिन्दू है।

सुकरात का सद्गुण में अटल विश्वास था। सद्गुण के बिना सुकरात किसी जगत की कल्पना नहीं कर सकते थे। सदगुण है, तो उसका ज्ञान भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए। सोफिस्ट ने ज्ञान को असंभव माना किन्तु सुकरात ज्ञान को संभव मानते है। क्योकि ज्ञान के बिना 'सद्गुणो' के अस्तित्व का निश्चित ज्ञान कभी नहीं हो सकता था। इस प्रकार सुकरात के दर्शन में नैतिक चेतना ज्ञान का पूर्वाग्रह है यानि ज्ञान से पूर्व हमें नैतिक चेतना के अस्तित्व को पहले स्वीकार करना होगा। बाद में सुकरात ने सद्गुण और ज्ञान में तादात्म्य को स्वीकार करते हुए 'सद्गुण ही ज्ञान है' और 'ज्ञान ही सद्गुण है' की घोषणा करते है। इसी नैतिक चेतना को जाग्रत करने हेतु सुकरात ने जिस पद्धति का प्रयोग किया उसे द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति कहते है। यह पद्धति प्रश्नोत्तर की पद्धति है। उस पद्धति की, निम्न विशेषताऐं हैः–

1.सन्देहात्मक (Sceptical Method)–सुकरात अपना दर्शन सन्देह से आरम्भ करते है। सर्वप्रथम सुकरात किसी भी समस्या के प्रति पूर्ण रूप से अपनी अज्ञानता प्रकट करते है, जिसे सुकरात विडम्बना (Soesatis Irery) कहते है। सुकरात के

अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिये बौद्धिक विनम्रता होना आवश्यक है। सन्देह या संशय सुकरात दर्शन का प्रारंभ है, सन्देह या संशय, निश्चयात्मक एवं निर्णयात्मक स्थिति तक पहुॅचने का माध्यम है।

2. विवादात्मक (Conversational)– सुकरात वाद–विवाद के अत्यधिक समर्थक थे, किन्तु यह वाद–विवाद व्यर्थ का वाद–विवाद नहीं बल्कि इसके द्वारा तत्त्व ज्ञान प्राप्ति तक पहुॅचना है। प्रश्नोत्तर पद्धति शिक्षात्मक महत्व रखती है। इस पद्धति के अनुसार सुकरात के समक्ष कोई प्रश्न रखा जाता तो सुकरात प्रश्नकर्त्ता से ही उसका हल ढूढ़ने को कहते। प्रश्नकर्त्ता के उत्तर पर सुकरात उसकी आलोचना करते और तत्पश्चात प्रश्नकर्त्ता दूसरा समाधान देता। सुकरात पुनः उसकी आलोचना करते। इस प्रकार यह प्रक्रिया तब तक चलती जब तक प्रश्न का सन्तोष जनक हल नहीं मिलता। सुकरात की यह पद्धति धात्री–प्रणाली कहलाती है। जिस प्रकार किसी धात्री (दाई) का कार्य बच्चे को जन्म देने में मदद करना भर है, न कि बच्चे को मॉ की गर्भ में रखना। इसी तरह शिक्षा का कार्य किसी बाहरी ज्ञान का व्यक्ति की बुद्धि में स्थापित न कर के, आत्मा में पूर्व में विद्यमान ज्ञान को स्पष्ठ और विकसित और प्रस्फुटित करना है। इसीलिये इस पद्धति के 'बौद्धिक प्रसाविका' (Intelleclual Midwiyery) कहते है।

3. प्रत्यायात्मक (Conceptual)– सुकरात के अनुसार ज्ञान उसके प्रत्ययों या परिभाषाओं में विद्यमान रहता है। जैसे हमें मनुष्य का ज्ञान प्राप्त करना है, तो हमें विशेष मनुष्यों की तुलना, उनके विशेष गुणों को अलग करके, उनके सामान्य गुणों को देखना होगा। हम पाते है कि मनुष्य में बौद्धिकता एवं पशुता दोनों के सामान्य गुण पाऐ जाते है। इस प्रकार मनुष्य की परिभाषा बनती है– "मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है।" अतः वास्तविक ज्ञान क्षणिक, परिवर्तनशील संवेदनाओं एवं प्रत्यक्षों में न होकर नित्य प्रत्यय और परिभाषाओं में निहित है।

4. अनुभवात्मक एवं आगमनात्मक (Inductive):– सुकरात की ज्ञान की पद्धति में आगमन विधि भी महत्वपूर्ण है क्योंकि हमारे दैनिक अनुभवों के द्वारा ही हम विशेष अनुभवों की तुलना करके वस्तु के सामान्य गुणों को विशेष गुणों से पृथक करते है। तत्पश्चात उनका सामन्यीकरण करते है। अन्त में उस सामान्य को नाम दिया जाता है। यही सामान्य हमारे ज्ञानों के स्त्रोत है। जैसे विशेष मनुष्यों का अनुभव कर उनके विशेष गुणों, रंग, भाषा, जाति, भार, लम्बाई आदि का ज्ञान प्राप्त किया जो परस्पर भिन्न है किन्तु विचरणा या चिन्तन शक्ति सभी में विद्यामान है, इसी को सामान्य गुण मान कर उस प्राणी को 'मनुष्य' नाम दिया गया (मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है)

5. निगमनात्मक (Deductive):– सुकरात की पद्धति निगमनात्मक भी है क्योकि वे आगमन पद्धति की सीमाऐं जानते थे। उनके अनुसार आगमन (विशेष अनुभव से सामान्य ज्ञान की ओर ले जाने वाली विधि) को जब तक निगमन (सामान्य के ज्ञान द्वारा विशेष ज्ञान को स्थापित करना) की कसौटी द्वारा सिद्ध नही किया जाता तब तक उनकी स्थापना नही की जा सकती।

6. प्राम्कल्पना (Hypothesies)– सुकरात की पद्धति की इस विशेषता के अनुसार प्रतिवादी के पक्ष के साथ–साथ उन अवधारणाओं को भी सम्मिलित किया जाता है, जिनके परस्पर विरोधी अर्थ निकलते है। तत्पश्चात एक प्राक्कल्पना की स्थापना की जाती है।

इस प्रकार सुकरात की पद्धति में द्वन्द्वात्मक पद्धति ने प्लेटो और अरस्तू के दर्शन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। प्लेटो की द्वन्द्वात्मक पद्धति और अरस्तू की व्यवस्थित तर्क शास्त्र सुकरात की पद्धति का ही विकसित रूप है।

सुकरात के प्रत्ययवाद ने ग्रीक दर्शन में क्रान्तिकारी विचार उत्पन्न किये। अपने पूर्व विचारक सोफिस्टों के 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही ज्ञान है' मत के विरूद्ध ज्ञान को वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिकता का रूप दिया। सुकरात के वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिकता का रूप दिया। सुकरात के अनुसार हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव पर आधारित है किन्तु ज्ञान की उत्पति बुद्धि से होती है क्योंकि प्रत्यय बुद्धि द्वारा ही उत्पन्न होते है।

प्लेटो

प्लेटो भी यूनानी दार्शनिक है। ये सुकरात के शिष्य है। ग्रीक दर्शन के इतिहास में प्लेटो ही पहले दार्शनिक है, जिन्होंने एक ऐसे विकसित और परिपूर्ण दर्शन की स्थापना की, जिसमें दर्शन के सभी पक्षों यथा मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्वशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र की समुचित व्याख्या ही नहीं कि बल्कि उनसे संबंधित समस्याओं का सन्तोष जनक समाधान भी किया। प्लेटो ने अपने पूर्ववर्ति दार्शनिकों के विचार अपने दर्शन में सम्मिलित किया। सुकरात को प्लेटो ने धर्म गुरू के रूप स्वीकार किया और उन्हीं के आदर्शो पर जीवन पर्यन्त चले। प्लेटो के प्रमुख्य ग्रंथ– रिपब्लिक, लॉज, प्रोटोगोरस, एपॉलोजी आदि है। उनके वृद्ध कालीन रचनाओं में मेनो, फीडो, सिम्पोजियम, पालिटिक्स, फाइलेब्स, टिमेयस, थीटिट्स, स्टेटसमैन, सॉफिस्ट आदि प्रमुख है।

ज्ञान मीमांसा (Epistemology)

प्लटो ने सुकरात के विचारों का प्रधानता देते हुए उसे विकसित किया है। जिस द्वन्द्वात्मक विधि की स्थापना सुकरात ने की, उसी को प्लेटो ने अपनी ज्ञान मीमांसा का आधार बनाया। प्लेटो की ज्ञान मीमांसा के दो पक्ष है – 1. विधि मूलक 2. निषेध मूलक

1. विधि मूलक के अन्तर्गत प्लेटो ने ज्ञान के स्वरूप, स्त्रोत, प्रामाणिकता, बुद्धि और इन्द्रियों के विषय आदि पर

चिन्तन किया। 'प्रजातंत्र नामक ग्रंथ में इस पक्ष की विस्तार से चर्चा की है।

2. निषेध मूलक पक्ष के अन्तर्गत प्लेटो ने यह बताया कि कौनसी वस्तुएँ सत्य के अन्तर्गत नहीं आती। निषेध मूलक उनके 'थिट्टिस' नामक ग्रंथ में विकसित किया गया है।

विधि मूलक पक्ष – 'प्रजातंत्र' नामक ग्रंथ में प्लेटो ने ज्ञान के निम्न प्रकारों को वर्गीकृत किया –

1. प्रतिमासिक या काल्पनिक
2. व्यवहारिक या इन्द्रिय जन्य ज्ञान
3. बौद्धिक या विश्लेषण ज्ञान
4. प्रज्ञा

प्लेटो ने अपनी ज्ञान मीमांसा को एक विभाजित रेखा के माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया है। एक लम्बरेखा अ, ब को चार खण्डों में इस प्रकार विभाजित किया गया है। जिसमें अ द : द स :: स य : य ब :: अ स : स ब

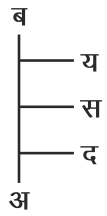

इस लम्बरेखा में प्रत्येक खण्ड, ज्ञान के एक निश्चित स्तर का द्योतक है अ ब के भीतर स बिन्दू इन्द्रिय जगत को विज्ञान जगत (प्रत्यय जगत) से पृथक करता है। इसमें प्रत्येक खण्ड के ज्ञान का विषय और उसकी प्राप्ती की प्रणाली तथा निश्चित सीमा होती है :–

1.प्रतिमासिक या काल्पनिक ज्ञान– इस वर्ग के अन्तर्गत इन्द्रिय जन्य ज्ञान, रखा गया है। प्लेटो के अनुसार यह निम्न कोटि का ज्ञान है। इसमें स्वप्न, प्रतिबिम्बों, भ्रम आदि का बोध होता है। जैसे रेगिस्तान में जल देखना, अंधेरे में रस्सी को सांप समझना आदि ऐसे ही ज्ञान के अन्तर्गत आते है। यह सदैव भ्रामक एवं संभाव्य होता है। लम्ब रेखा में ये प्रतिमासिक ज्ञान को दर्शाता हैं

2.व्यवहारिक या इन्द्रिय जन्य ज्ञान– प्लेटो क मत में व्यवहारिक ज्ञान जो इन्द्रिय संवेदनाओ से उत्पन्न होता है, प्रतिमासिक ज्ञान से अधिक विश्वसनीय है। किन्तु यह भी वस्तुओं का केवल प्रतिती या संभाव्य ज्ञान कराता है, यथार्थ नही। विभाजित रेखा का द्वितीय खण्ड य स व्यवहारिक ज्ञान को दर्शाता है।

3.बौद्धिक या विश्लेषण ज्ञान– विभाजित रेखा का तृतीय खण्ड स, द बौद्धिक या विश्लेषणज्ञान को प्रदर्शित करता है। इस ज्ञान का संबंध ज्ञानेन्द्रियों से न होकर गणित, ज्यामिति के प्रत्ययों, संख्याओं रेखाओं आदि से होता है। इसे सापेक्ष ज्ञान कहते है। प्लेटो ने इस ज्ञान को बहुत महत्ता दी है, क्योंकि प्लेटो के मत में यही ज्ञान बुद्धि को इस योग्य बनाता है, जिससे मनुष्य प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

4.प्रज्ञा– विभाजित रेखा का चतुर्थ एवं अन्तिम खण्ड द अ श्रेष्ठतम ज्ञान का द्योतक है। यह विशुद्ध प्रत्ययों (परमतत्व) का ज्ञान है। इस ज्ञान के विषय 'प्रत्यय' हैं इनकी प्राप्ति द्वन्द्व, न्यायात्मक प्रणाली द्वारा होती है। यहाँ प्लेटो के द्वन्द्व एवं न्यायात्मक प्रणाली पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पारमार्थिक ज्ञान (प्रत्ययों के ज्ञान) इन्द्रिय ज्ञान से नहीं बल्कि बुद्धि या प्रज्ञा (विवेक) से ही प्राप्त होता है। किन्तु इन्द्रियज्ञान से पारमार्थिक ज्ञान की ओर उन्मुखता के लिये सत्यनिष्ठा परमआवश्यक है। सत्यनिष्ठा हमें द्वन्द्वात्मक तर्क द्वारा प्राप्त होती है। द्वन्द्वात्मक पद्धति के चार चरण होते है–

1.सामान्यीकरण– विभिन्न विशेषों को पृथककर, विशेष जाति के सदस्यों को एक–एक विज्ञान (प्रत्यय) के अधीन करना सामान्यीकरण है। जैसे विभिन्न प्रकार के पशुओं में एक बात 'पशुता', विभिन्न पशुओं को एक सामान्य के अधीन कर दिया जाता है। जो सामान्य है, वही प्रत्यय है।

2.वर्गीकरण– किसी प्रत्यय को उसके विभिन्न उपवर्गो में विभाजित करना वर्गीकरण है। जैसे 'पशुता' के आधार पर उसके उपवर्ग – गौ–प्रत्यय, मनुष्य–प्रत्यय, अश्व–प्रत्यय आदि में वर्गीकृत करना वर्गीकरण है।

3.तर्कवाक्य– विभिन्न प्रत्ययों में पारस्परिक संबंध की स्थापना के लिये जिस प्रक्रिया को अपनाई जाती है, वह तर्कवाक्य है।

4.निगमनात्मक अनुमान– इसके अन्तर्गत तर्कवाक्यों को परस्पर सम्बद्ध कर निगमनात्मक अनुमान ;लससवहपेउद्ध का निर्माण किया जाता है, जिससे हम किसी निर्णय पर पहुँच सके।

प्लेटो की दर्शन–प्रणाली द्वन्दात्मक है, जो वाद–विवाद अथवा प्रश्नोत्तर की प्रणाली है।

निषेधात्मक पक्ष– प्लेटो ने इस पक्ष में सोफिस्टों के मतों का खण्डन किया है।

1.ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है– प्लेटो के अनुसार सोफिस्टों का यह विचार गलत है कि व्यक्ति का प्रत्यक्षज्ञान सत्य होता है। क्योंकि भविष्य में उसका वह ज्ञान सत्य हो, यह आवश्यक नही।

2.प्रत्यक्ष परस्पर विरोधी ज्ञान के उत्पत्ति करता है। एक ही वस्तु समीप से बड़ी और दूर से छोटी दिखाई पड़ती है।

3.ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर शिक्षा, वाद–विवाद,

प्रमाणिकरण, अप्रमाणिकरण सभी असंभव हो जायेंगे।

4. यदि व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान को सत्य मानकर, सभी वस्तुओं का मापदण्ड मान लिया जाय तो पशुओं को भी मापदण्ड मानना पड़ेगा।

5. प्लेटो के मत में प्रोटेगोरस का मत आत्म विरोधी है। इसके अनुसार मुझे जो सत्य प्रतीत होता है वही सत्य है। अतः यदि मुझे यह प्रतीत हो कि उनका सिद्धान्त गलत है, तो उन्हें मान लेना चाहिए कि उनका सिद्धानत गलत है।

6. इस सिद्धान्त के मानने से सत्य की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है।

7. कुछ ऐसे विषय भी है जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नही होता जैसे तुलना, वर्गीकरण आदि।

ज्ञानमत नहीं है– प्लेटो के अनुसार मिथ्या मत ही नही, सही मत भी ज्ञान नही है क्योंकि सही मत भी अटकलों के अतिरिक्त अन्य बातों पर भी निर्भर होता है। मत सही और गलत दोनों हो सकते है किन्तु ज्ञान सदैव सत्य ही होता है। कहा भी जाता है कि सौ मूर्खों की राय से एक बुद्धिमान की राय अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्लेटो ने ज्ञान और मत के भेद के निम्न प्रकार से भेद किया है।

ज्ञान	सही मत
शिक्षण द्वारा ज्ञान को आरोपित किया जा सकता है।	सही मत के प्रेरणा द्वारा आरोपित किया जा सकता है।
ज्ञान और सम्यक बुद्धि (विवेक) एक साथ पाये जाते है। दोनों में अनिवार्य संबंध है अर्थात् एक के अभात में दूसरा अस्तित्व नही रख सकता।	सही मत के लिये बुद्धि की आवश्यकता नही होती।
उत्तेजना और प्रेरणा के द्वारा ज्ञान में परिर्वतन नही लाया जा सकता।	सही मत में उत्तेजना और प्रेरणा द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।
ज्ञान विशुद्ध शुद्ध सत (वास्तविकता) है।	सही मत, मन और असत के बीच की अवस्था है।

प्लेटो का प्रत्ययवाद

प्लेटो के तत्वभामांसीय सिद्धान्त को प्रत्ययवाद के नाम से जाना जाता है। प्रत्यय प्लेटो के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। यह जगत का सार, मूल द्रव्य है। जिनसे जगत की वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। प्रत्यय केवल विचार स्वरूप नहीं है, बल्कि वास्तविक तात्विक या उपादन रूप (Constitutive) भी है। इन्हें ही प्लेटो 'विज्ञान' कहते है।

प्लेटो ने विज्ञानों को वास्तविक तत्वों के रूप में सिद्ध करने से पूर्व प्रत्यक्ष जगत के स्वरूप एवं उससे संबंधित ज्ञान का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। उनका मत है कि बाह्य जगत का ज्ञान कभी भी सन्देह मुक्त और निरपेक्ष नही हो सकता। जैसे एक ही जल, ज्वर वाले व्यक्ति को ठण्डा और स्वस्थ व्यक्ति को गर्म लग सकता है, एक ही वस्तु कमजोर व्यक्ति को भारी, तो बलवान को हल्की लग सकती हैं अतः जगत की वस्तुओं का ज्ञान निश्चित नहीं हो सकता, उसकी केवल प्रतीति (Opinion) ही हो सकती है।

प्लेटो के अनुसार वास्तविक ज्ञान केवल प्रत्ययों या सामान्य विज्ञानों का ही संभव है। जगत की वस्तुए अनित्य संदेह युक्त, सापेक्ष, परिवर्तनशील है। अतः ये हमारे ज्ञान के विषय नहीं बन सकते । विज्ञान जो नित्य, सार्वभौम और असंदिग्ध हैं, हमारे ज्ञान के वास्तविक विषय है।

प्लेटो द्वारा स्थापित 'विज्ञान' आत्मा द्वारा निर्मित कोई अमूर्त कल्पना नहीं है, बल्कि विज्ञान आत्मा से स्वतंत्र और आत्मा से बाह्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। प्लेटो अपने विज्ञानवाद की स्थापना के लिये वस्तुवादी और सत्य के सामन्जस्यतावादी सिद्धान्त का सहारा लेते है। वस्तुवादी रूप में, प्लेटो विज्ञानों को आत्मा से स्वतंत्र और बाह्य सत्ता के रूप में स्वीकार करते है तथा सत्य के सामन्जस्यवादी सिद्धान्त के द्वारा ये बताये है कि सत्य हमारे मानसिक प्रत्ययों और बाध्य तथ्यों के सामन्जस्य का परिणाम है। जैसे हमारे मन में 'कमल' का प्रत्यय है, तो यह प्रत्यय तब ही वास्तविक समझा जायेगा। जबकि प्रत्यय कमल के अनुरूप बाध्य जगत में 'कमल' का फूल विद्यमान हो। यदि 'कमल' प्रत्यय के अनुरूप बाध्य रूप में कमल का फूल नही है तो हमारा प्रत्यय असत्य अथवा अयथार्थ ;न्दतमंसद्ध होगा। प्लेटो ने इसी सामन्जस्यवादी सत्य के सिद्धान्त को अपने विज्ञानों के प्रतिपादन का माध्यम बनाया।

प्लेटो के अनुसार वास्तविक ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है अर्थात् ज्ञान यथार्थ तभी होगा जब प्रत्यय यथार्थ होगा और प्रत्यय की यथार्थता तभी संभव है जबकि उसका सामन्जस्य बाध्य और वास्तुनिष्ठ विज्ञानों के साथ है। अतः विज्ञानों का बाह्य, स्वतंत्र अस्तित्व अनिवार्य है।

साधारण अनुभव में जब हम प्रश्न करते है कि 'सौन्दर्य क्या है?' 'न्याय क्या है?' 'ईमानदारी क्या है?' आदि तो हम सुन्दर फूल, मकान, व्यक्ति, न्याय युक्त घटनाओं और ईमानदार व्यक्ति का उदाहरण देते हैं। किन्तु ये क्रमशः 'सौन्दर्य', 'न्याय',

'ईमानदारी' प्रत्यय के उदाहरण है, न कि प्रत्यय। वास्तव मे यह आदर्शरूप मानदण्ड है, जो आत्मा में स्थित रहते है और इनकी संगति या सामन्जस्य आत्मा से स्वतंत्र वस्तुनिष्ठ 'सौन्दर्य', 'न्याय' आदि से होना आवश्यक है, वरना आत्मा में स्थित प्रत्यय काल्पनिक माने जायेंगे। अतः इन्द्रियात्मक जगत में जितनी भी वस्तुएँ है, उनके प्रत्यय आत्मा से स्वतंत्र, वस्तुनिष्ठ रूप में विद्यमान होते हैं। ये प्रत्यय जगत, जो प्रत्यक्ष जगत से भिन्न है, में अस्तित्व रखते हैं और आत्मा को इन प्रत्ययों का ज्ञान रहता है।

प्रत्यय या विज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्लेटो ने जो प्रमाण दिए, उसकी व्याख्या अरस्तू ने निम्न प्रकार से किया है –

1.विज्ञान मूलक तर्क (The arguments from the Science) – इस तर्क के अनुसार विशेष वस्तुऐं उन विज्ञानों के विषय कभी नही बन सकते, क्योंकि विशेष, अनित्य परिणामी, परिवर्तनशील होते हैं और विज्ञानों के विषय नित्य एवं अपरिणामी होते हैं। अतः नित्य, शाश्वत, अनश्वर, अपरिवर्तनशील सत्ताओं का होना आवश्यक है जिन्हें हम विज्ञान (Idea) कहते है।

2.अभेदमूलक तर्क (The argument of the one over the many) – इस तर्क के अनुसार इन्द्रिय जगत की जितनी भी वस्तुऐं है वे सभी विशेष है। इसलिये उनमें अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता जबकि प्रत्ययों में पूर्णरूप से अभेद रखते हैं। अतः इन्द्रिय जगत से परे इन प्रत्ययों का अस्तित्व प्रत्यय जगत में रहता है। जैसे जगत में जितने भी मनुष्य है, वे मनुष्य होते हुए भी 'सामान्य मनुष्य' नहीं हो सकते क्यों 'सामान्य' की व्यापकता 'विशेष' से कहीं अधिक है।

3.अभावमूलक तर्क (The argument from the knowledge of thing that are no more) – जब हम किसी सामान्य मनुष्य या जानवर का चित्रण करते है तो हमारे चित्रण का एक विषय होता है, जो सामान्य है और जिसमें विशेष मनुष्य और विशेष जानवर के अभाव का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। अतः विशेषो के अतिरिक्त सामान्य की सत्ता अनिवार्य है।

4.संबंध मूलक तर्क (The argument from Relation) – इस तर्क के अनुसार वस्तुओं का एक ही नाम तीन प्रकार से स्वीकार किया जाता है–1. उन वस्तुओं में तादात्म्य (एकत्व) हो, 2. उनके भीतर सादृश्य हो, 3. उनमें से एक, दूसरे की प्रतिलिपी हो। प्लेटो के अनुसार जगत की वस्तुऐं न तो प्रत्यय से एकरूपता रख सकती हैं और न ही सादृश्यता बल्कि ये प्रत्यय के अनुकरण या प्रतिलिपी है और जिन प्रत्ययों के अनुकरण है, उन्हीं को प्लेटो ने विज्ञान (Idea) कहा है।

5.'तृतीय मनुष्य 'मूलक तर्क' (The argument implying the fallacy of the third man)– 'तृतीय मनुष्य मूलक तर्क कुछ इस प्रकार है, 'जब वस्तुओं को एक ही नाम से बुलाया जाता है और वे वस्तुए इतना व्यापक न हो जितना कि वह नाम है। इसका अभिप्राय यह है कि वे विशेष वस्तुए एक सामान्य सत्ता के साथ समान संबंध रखती हैं जैसे मनुष्य, काला, गोरा, लम्बा, छोटा, भाषा आदि से विशेष है, किन्तु वे सभी मनुष्यत्व के साथ समान रूप से संबंधित है। वही सामान्य सत्ता प्लेटो का विज्ञान हैं।

प्रत्ययों की विशेषताऐं– प्रत्यय, जगत का सार, द्रव्य, सामान्य, विचार रूप, इकाई, कुठस्थ, अपरिवर्तनशील देश–काल से परे बौद्धिक तत्व है।

द्रव्य– प्लेटो के अनुसार प्रत्यय निरपेक्ष द्रव्य है। अर्थात् वे अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य वस्तु पर आश्रित नहीं है।

सामान्य– प्रत्यय अपने वर्ग के सभी सदस्यों का सामान्य रूप से प्रतिनिधित्व करता है।

विचार– प्लेटो के अनुसार प्रत्यय विचार रूप (मानसिक) हैं, किन्तु किसी व्यक्ति के विचार नहीं और न ही वे ईश्वर के विचार है। बौद्धिक होने के कारण विचार रूप है।

ईकाई– प्रत्यय अनेक है, किन्तु उनमें एकता है। इसलिये एक वर्ग के लिये एक ही प्रत्यय है।

देशकाल से परे– प्रत्यय इन्द्रिय अनुभव के विषय नही हो सकते क्योकि वे असीम एवं अपरिवर्तनशील है। इसलिये वे देश–काल से परे है।

बौद्धिक– प्लेटो बुद्धिवादी दार्शनिक है। इसीलिये वे परमतत्व प्रत्ययों का ज्ञान बुद्धि द्वारा ही संभव मानते है।

प्रत्ययों के प्रकार– प्लेटो के अनुसार प्रत्यय जगत में असंख्य प्रत्ययों की सत्ता है जिन्हें निम्न प्रकारों मे बांटा जा सकता है–

1. नैतिक प्रत्यय– न्याय, शुभत्व, सुन्दरता आदि

2. अनैतिक प्रत्यय– अन्याय, अशुभत्व, कुरूपता आदि

3. प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्यय– अग्नि, वायु, जल, मनुष्य, पशु आदि

4.कृत्रिम वस्तुओं के प्रत्यय– मकान, कुर्सी, मेज आदि

5.गुणों के प्रत्यय– सफेदी, मीठापन, कड़वापन, आदि

6.परम शुभ का प्रत्यय– प्लेटो ने प्रत्यय जगत में असंख्य प्रत्ययों की सत्ता स्वीकार की है और उन सभी प्रत्ययों में श्रेणीबद्धता पाई जाती हैं। इसी श्रेणीबद्धता का सर्वोच्च स्तर, परम शुभ का प्रत्यय है। यह 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' है। इसी परम शुभ के प्रत्यय को प्लेटो कहीं–कहीं ईश्वर रूप में भी स्वीकार करते है। सम्पूर्ण जगत (दृश्य जगत) इसी परम शुभ से

गतिमान होता है।

इन्द्रिय जगत और प्रत्यय जगत में संबंध

प्लेटो दर्शन में दो प्रकार के जगत का वर्णन मिलता है – 1. इन्द्रिय जगत 2. प्रत्यय जगत (पारमार्थिक जगत)। प्लेटो के अनुसार इन्द्रय जगत विशेषों का जगत है। जो अनित्य, परिवर्तनशील, सीमित, कार्य–कारण पर आश्रित एवं देश–काल सापेक्ष (निर्भर) है। जबकि प्रत्यय जगत पारमार्थिक, नित्य अपरिर्वनशील, पूर्ण, देश–काल से परे और बुद्धिगम्य है।

प्लेटो के अनुसार इन्द्रिय जगत मिथ्या (अवास्तविक) और प्रत्यय जगत की प्रतिछाया (अनुकृति) मात्र है। यहॉ प्रश्न यह उठता है कि यदि इन्द्रिय जगत प्रत्यय जगत की अनुकृति है और हमारे अनुभव का प्रथम सोपान है, तो वह प्रत्यय जगत से भिन्न या अवास्तविक कैसे हो सकता है? इसके समाधान के लिये प्लेटो ने दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है –

1. अंशवाद (सहभागितावाद)
(Participation theory)

2. प्रतिबिम्ववाद (Copy theory)

1. अंशवाद के अनुसार इन्द्रिय जगत की वस्तुऐं प्रत्यय जगत में 'भाग' लेती है। अर्थात् इन्द्रिय–जगत वास्तव में प्रत्यय जगत का 'सत्य अंश' है।
2. प्रतिबिम्बवाद के अनुसार इन्द्रिय जगत प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब, अनुकरण प्रतिछाया मात्र है।

(iii) अरस्तू

ग्रीक दर्शन में प्लेटो के बाद एरिस्टॉटल (अरस्तू) दूसरे महान दार्शनिक है। इन पर भी सुकरात एवं प्लेटो के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अरस्तू एक सर्वतोन्मुख प्रतिभा वाले दार्शनिक है। इन्होंने जीवन से जुड़े सभी विषयों पर विद्वतापूर्ण चिन्तन कर, विभिन्न ग्रंथो की रचना कीं।

प्लेटो के दर्शन का मुख्य सिद्धान्त प्रत्ययवाद को अरस्तू ने नया दृष्टिकोण प्रदान किया। प्लेटो के प्रत्ययवाद के अनुसार इन्द्रिय जगत, प्रत्यय जगत की प्रतिछाया मात्र है। यह जगत परिवर्तनशील, विशेष, अनित्य अवास्तविक और प्रत्यय जगत से बिलकुल भिन्न है। प्रत्ययों का अस्तित्व इस जगत में न होकर प्रत्यय जगत में होता है। प्रत्यय, जगत के विषयों का सामान्य रूप है और अपने विशेषों से नितान्त भिन्न एवं पृथक हैं।

अरस्तू के समक्ष, प्लेटो के उपरोक्त विचारों ने कई समस्याओं को खड़ा कर दिया। अरस्तू के अनुसार प्लेटो का प्रत्ययवाद, प्रत्यय जगत एवं इन्द्रिय जगत को परस्पर इतना भिन्न बना देता है कि जगत की व्याख्या सन्तोष जनक रूप से नही कर पाये है। अपरिवर्तनशील, अविकारी, नित्य प्रत्यय द्वारा किस प्रकार परिवर्तनशील, विकारशील एवं अनित्य जगत की उत्पत्ति संभव है? प्रत्यय, जगत का सार कैसे हो सकता है, यदि वह जगत, इन्द्रिया जगत से परे है। क्या गुलाब जल (गुलाब का सार) गुलाब के फूल से पृथक एवं भिन्न हो सकता है? मनुष्यत्व (प्रत्यय) को मनुष्य से पृथक नहीं किया जा सकता। अतः अरस्तू दर्शन के सामने सबसे बड़ी समस्या थी, जगत में व्याप्त परिवर्तनशीलता की व्याख्या करना।

कारणता संबंधी सिद्धान्त–

प्लेटो के प्रत्ययवाद से जगत के परिवर्तन की व्याख्या संभव नही हो सकी। क्योंकि जगत के परम तत्व नित्य, अपरिवर्तनशील, अविकारी, बौद्धिक और इन्द्रिय जगत से परे है। जबकि जगत की वस्तुए विकारी, अनित्य और परिवर्तनशील है। इसी समस्या के समाधान के लिये अरस्तू ने कारणता के सिद्धान्त की स्थापना की। यही कारणता का सिद्धान्त उनके तत्वमीमांसा का आधार बनी। अरस्तू ने मुख्य रूप से चार प्रकार के कारणों की स्थापना की है–

1. भौतिक कारण
2. निमित कारण
3. स्वरूप कारण
4. अन्तिम या लक्ष्य कारण

1.भौतिक कारण– जिस द्रव्य से या पदार्थ से किसी वस्तु का निर्माण किया जाता है, उसे भौतिक कारण कहते है। घड़े के संदर्भ में मिट्टी। इसी अर्थ के साथ–साथ अरस्तू ने भौतिक कारण का एक अन्य अर्थ भी लिया है वह है – 'संम्भाव्य' अर्थात् जिस द्रव्य में अनेक सम्भावनाऐं विद्यमान हो। जैसे – मिट्टी में घड़ा, अन्य बर्तन, मूर्ति, मकान आदि बनने की संभावनाऍं छिपी है। इसी अर्थ में भौतिक कारण को, संम्भाव्य भी कहा गया है।

2.निमित कारण– वह चालक शक्ति जिससे वस्तु में परिवर्तन उत्पन्न होता है जैसे कुंभकार, स्वर्णकार आदि

3.स्वरूप कारण– किसी वस्तु का 'सार' या 'तत्व' स्वरूप कारण कहलाता है। किसी वस्तु का सार उसका प्रत्यय होता है, जो परिभाषा द्वारा ज्ञात होती है। मूर्तिकार के मस्तिष्क में जो मूर्ति का आदर्श है, वही स्वरूप कारण है।

4.अन्तिम या लक्ष्य कारण– जिस उद्देश्य या लक्ष्य को ध्यान में रखकर परिवर्तन किया जाता है, उसे अन्तिम या लक्ष्य कारण कहते है। लक्ष्य ही किसी वस्तु को उसकी पूर्णावस्था को प्राप्त करवाता है। जैसे पूर्ण प्रतिमा, जो निर्माण का परिणाम है, वही लक्ष्य कारण है।

अरस्तू ने उपर्युक्त चारों कारणों को पुनः दो कारणों में सीमित किया–

1. द्रव्य कारण 2. आकार कारण

इसको प्रमाणित करने के लिये अरस्तू ने निम्न तर्क प्रस्तुत किए है–

1. स्वरूप, निमित और लक्ष्य कारण तीन अलग–अलग वस्तुऍं नही है, वे स्वरूप (Form) के ही परिवर्तित रूप है। अरस्तू के अनुसार लक्ष्य कारण, स्वरूप कारण का ही मूर्त रूप है। स्वरूप कारण किसी वस्तु का 'सार' प्रत्यय अथवा विज्ञान है और लक्ष्य कारण उसी सार, प्रत्यय या विज्ञान का साकार रूप है। अतः लक्ष्य और स्वरूप कारण में भेद नहीं है।

2. उसी प्रकार निमित्त और लक्ष्य कारण में भी कोई भेद नही हैं निमित कारण वस्तु की उत्पत्ति का साधन है और लक्ष्य–कारण उस उत्पत्ति का साध्य या अन्त। अरस्तू के अनुसार जो गति, संभूति का कारण होता है, वही अन्त में लक्ष्य भी होता है। अतः निमित्त कारण और लक्ष्य–कारण अन्ततः एक ही है। जैसे एक मूर्तिकार, मूर्ति जिस वस्तु से (पत्थर, पीतल या तॉबा) मूर्ति का निर्माण करता है, वह उपादान कारण हुआ, मूर्ति का प्रत्यय जो उसके मस्तिष्क में हैं वह, स्वरूप कारण हुआ, सम्पूर्ण मूर्ति जिसकों लक्ष्य करके मूर्तिकार मूर्ति का निर्माण कर रहा है, लक्ष्य कारण हुआ और स्वयं मूर्तिकार ही वह 'शक्ति' या गति प्रदान करता जिसके कारण निर्माण कार्य पूर्ण होता है निमित्त कारण हुआ। अरस्तू इस विचार पर बल देते है कि वास्तव में लक्ष्य कारण या साध्य ही निर्माण कार्य को गति प्रदान करता है।

अरस्तू का दर्शन जगत में व्याप्त परिवर्तन की व्याख्या अपने कारणता सिद्धान्त द्वारा करते है। हमने देखा कि अरस्तू 'कारण' को एक व्यापक अर्थ प्रदान करते है। उनके अनुसार उपादान और लक्ष्य (अन्तिम) (Form) कारण ही वे मौलिक आधारभूत कारण है, जिससे जगत की सभी वस्तुऍं गतिमान (परिवर्तित) हो रही है। द्रव्य को, तत्वमीमांसीय दृष्टि से संभूति (सम्भाव्य) और लक्ष्य को, सत या वास्तविकता (Form) कहा गया है। जगत की सभी वस्तुएँ इन्हीं से गतिमान (लक्ष्य की ओर) हो रही है। यह जगत आकार और द्रव्य का मिश्रण है। यह परिवर्तन, चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के जगत में घटित हो रहा है। यही द्रव्य और 'आकार' अरस्तू के तत्त्वमीमांसा के आधार भूत तत्व है।

जगत–द्रव्य और आकार का मिश्रण

प्लेटो ने जिसे विशेष और सामान्य कहा, उसी को अरस्तू ने द्रव्य और आकार कहा किन्तु प्लेटो ने विशेष (इन्द्रिय जगत) और सामान्य (प्रत्यय) को नितान्त भिन्न माना वही अरस्तू ने कहा कि संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जिसमें केवल आकार हो अथवा केवल द्रव्य हो। प्रत्येक वस्तु में ये दोनों ही तत्व मिश्रित रूप में रहते है।

अरस्तू के अनुसार आकार और द्रव्य को समझाते हुए अरस्तू ने बताया कि सभी प्रकार के परिवर्तनों में जो परिवर्तित होता है वह द्रव्य है तथा जिस ओर परिवर्तन अग्रसर हो रहा है वह आकार है। जैसे आम का वृक्ष आम के फल का आकार है। आभूषण, आकार है तो स्वर्ण, द्रव्य।

अरस्तू ने द्रव्य को 'सम्भावना' और आकार को 'वास्तविकता' के रूप में भी व्यक्त किया है, जो संम्भावनाओं से युक्त है वह द्रव्य है और आकार उन सम्भावनाओं का वास्तविक रूप। इस प्रकार जगत में द्रव्य, आकार की प्राप्ती कर लेता है तो वही आकार पुनः अपनी संम्भावनाओं के कारण द्रव्य बन जाता है। और अपने लक्ष्य आकार की ओर बढ़ता है। द्रव्य (सम्भावना) और आकार (वास्तविकता) की यही श्रृंखला परिवर्तन का आधार है। इस श्रृंखला का अन्तिम छोर शुद्ध आकार (आकारों का आकार) ईश्वर है। जगत का सम्पूर्ण परिवर्तन उसकी ईश्वर की प्राप्ति की और अग्रसर है। इसलिये अरस्तू ने ईश्वर को गतिरहित गतिदाता कहा है।

इस प्रकार प्लेटो के दर्शन में जगत के परिवर्तन का समाधान अरस्तू ने संभाव्य (द्रव्य) और वास्तविकता (आकार) के सिद्धान्त द्वारा किया। इस मत में जगत का निरन्तर विकास हो रहा है। द्रव्य निरन्तर अपने को उच्चतर आकारों में अभिव्यक्त कर रहा है।

देकार्त– पद्धति

मध्ययुगीन दर्शन के पश्चात्, पाश्चात्य दर्शन में मुख्य रूप से दो प्रकार की ज्ञान की धाराऐं विकसित हुई – 1. बुद्धिवाद 2. अनुभववाद

ज्ञानमीमांसा की वह विचारधारा जिसके अनुसार ज्ञान का एकमात्र साधन बुद्धि है, बुद्धिवाद कहलाता है। अनुभववाद ज्ञान मीमांसा की वह विचार धारा है, जिसके अनुसार ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रियात्मक अनुभव है।

देकार्त एक बुद्धिवादी दार्शनिक है। देकार्त को आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक कहा जाता है। देकार्त के पूर्व मध्य युग में धर्म का बोलबाला रहा। व्यक्ति के जीवन के हर क्षेत्र में, धर्म को सर्वाधिकार प्राप्त था। धर्म की अनुमति बिना, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं था। इस प्रकार व्यक्ति को किसी प्राकर की वैचारिक स्वतंत्रता नहीं थी। इसलिये इस युग को अंधकार युग कहा जाता है।

देकार्त ने ऐसे अंधकार युग में दर्शन और विज्ञान को धर्म से स्वतंत्र एवं पृथक करने का सफल प्रयास किया। दर्शन को विज्ञान की भॉति धर्म से पृथक कर वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास किया। इसलिये इन्हें आधुनिक पाश्चात्य दर्शन जगत का पिता (जनक) कहा जाता है।

देकार्त गणित से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्हें दर्शन प्रेमी गणितज्ञ कहा जा सकता है। देकार्त ने यह देखा कि गणित में निश्चितयात्मकता है। उसके सिद्धान्त निर्वावाद और निःसंदेह सत्य हैं। इसी कारण गणित के सत्य सार्वभौमिक (सर्वत्र समान रूप से लागू) होते हैं। देकार्त दर्शन में भी गणित की भांति निश्चयात्मकता अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता लाना चाहते थे। यही उनके दर्शन का एकमात्र लक्ष्य एवं मुख्य समस्या थी।

सत्य का अनुसंधान करना दर्शन का लक्ष्य है। सत्य के दो रूप है–

स्वतः सिद्ध– ऐसा सत्य जिसे सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नही वरन् समस्त प्रमाणों की सिद्धि ऐसे सत्य के द्वारा होती है।

प्रमाण जन्य सत्य– ऐसे सत्य जिन्हें प्रमाणों द्वारा सिद्ध अथवा असिद्ध करके स्थापित किया जाता है। ऐसा सत्य, जिन नियमों (बौद्धिक) द्वारा सिद्धि ओर असिद्धि का कार्य करता है, वे नियम स्वतः सिद्ध होते है। इन नियमों को अन्य प्रमाणों या नियमों द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं और यदि हम ऐसा प्रयास करते है, तो अनावस्था दोष आता है। इस दोष के अन्तर्गत अ को ब से, ब को स से और स को द से और इस प्रकार अनंत तक यह सिद्धि कार्य चलता रहता है, इस प्रक्रिया का कोई अन्त नही होता। साथ ही सत्यता की स्थापना भी असंभव हो जाती है। अतः देकार्त के अनुसार स्वयं सिद्ध सत्य का साधन है – सहज ज्ञान **(Intution)** है ओर प्रमाण जन्म सत्य का साधन है – सविकल्प बुद्धि है। सविकल्प बुद्धि, स्वयं सिद्ध सत्य के आधार पर अन्य नियमों को स्थापित करती है, जैसे गणित में कुछ मौलिक नियमों के आधार पर अन्य नियम सिद्ध किये जाते हैं।

इस प्रकार देकार्त के दर्शन–पद्धति के दो अंग है– 1. सहज अनुभूति (Intution) 2. निगमन (Deducative Method)

1.सहज अनुभूति– इसके द्वारा सत्य का स्वरूप इतना सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हो जाता है कि उस पर संदेह नही रहता। जैसे सूर्य को देखने के लिये दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नही रहती।

2.निगमन– सविकल्प बुद्धि या तर्क की मुख्य प्रणाली है– निगमन। इस प्रणाली के अन्तर्गत बुद्धि, सहज अनुभूति द्वारा परिस्पष्ट नियमों द्वारा अन्य विशेष नियमों को निगमित अथवा निष्कर्ष रूप में स्थापित करती है।

यहॉ यह स्पष्ट करना अनुचित न होगा कि तर्क की दूसरी प्रणाली जिसे आगमन प्रणाली कहा जाता है और इस प्रणाली के द्वारा कुछ विशेष घटनाओं के आधार पर एक सामान्य सत्य की स्थापना की जाती है। देकार्त ने इस प्रणाली के मन एवं बाह्य जगत के विश्लेषणात्मक अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण माना है, किन्तु देकार्त यह स्वीकार करते हैं कि आगमन प्रणाली अपनी सत्यता के लिये निगमन पर ही निर्भर करती है।

दार्शनिक विधि के चार नियम

देकार्त ने अपनी पुस्तक 'डिसकोर्स' में चार नियमों का विवरण दिया है –

1. जब तक मुझे किसी वस्तु की सत्यता का स्पष्ट ज्ञान न हो जाय, तब तक उसे कभी सत्य नही मानना। अर्थात् स्वयं की धारणा निर्धारित करने में अतिशीघ्रता, पूर्वाग्रह को दूर रखना तथा अपनी धारणा में केवल वही चीज ग्रहण करना जिसकी सत्यता पर संदेह करने का अवसर ही उत्पन्न न हो।
2. किसी समस्या पर विचार करते समय उसके सही समाधान हेतु, उस समस्या का यथा संभव तथा पर्याप्त अंशों में विश्लेषण करना।
3. किसी प्रश्न पर व्यवस्थित ढ़ंग से विचार करना। इसके अन्तर्गत सरल, सुलभ ज्ञान से प्रारंभ कर, एक निश्चित क्रम में जटिलतर अवस्था तक पहुॅचन का प्रयास किया जाता है।
4. अपनी विचारों से संबंधित सभी पक्षों की इस प्रकार गणना एवं सर्वेक्षण करना ताकि इस बात की पूर्ण निश्चितता हो जाय कि विचार कड़ी में कही भी कोई पक्ष छूटा नहीं है।

देकार्त द्वारा उपरोक्त दार्शनिक नियम केवल दर्शन तक ही सीमित नहीं है। इनकी व्यापक तो इतनी है कि किसी भी क्षेत्र से संबंधित समस्या पर ये नियम लागू किये जा सकते हैं।

दार्शनिक विधि का प्रथम नियम बहुत महत्वपूर्ण है। इस नियम के अनुसार दार्शनिक तब तक किसी चीज के सत्य स्वीकार नही करें जब तक वह उस चीज के इतनी स्पष्टता और परिश्ट दृष्टि के साथ न देख ले कि उसकी सत्यता में उसे सन्देह की कोई सम्भावना ही नहीं रहें। स्पष्टता से अभिप्राय है– जिसका अर्थ या बोध हमें साफ–साफ दिखाई दे और परिस्पष्ट से अभिप्राय है कि जिसका बोध या अर्थ इतना निश्चित हो कि उसे किसी अन्य बातों से मिल जाने का धोखा न हो।

देकार्त का यही नियम यदि दार्शनिक खोज के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जाय तो यही नियम देकार्त के सन्देह विधि के जन्म देता है।

देकार्त की संदेह–विधि

देकार्त की दार्शनिक पद्धति है– सन्देह की पद्धति किन्तु वे सन्देहवादी नहीं है। वे तो बुद्धिवाद के कट्टर समर्थक है, किन्तु निश्चित, सन्देह रहित, सार्वभौम सत्य तक पहुॅचने के लिये सन्देह आवश्यक है। सन्देह तो साधन है। निश्चितात्मक

सत्य साध्य है, सन्देह साधन है। देकार्त ने कहा है कि ''ज्ञान का उद्‌गम सन्देह है'' (Dubito ul Intelligam)

अपनी इस सन्देह पद्धति से देकार्त ने इस प्रकार विचार करना प्रारंभ किया– 'जहॉ भी किसी भी ज्ञान में तनिक भी सन्देह हो अथवा उसमें सन्देह की कल्पना की जा सके, तो उसमें तब तक के लिये अपना विश्वास न रखों जब तक कि उसमें सन्देह की गुंजाईश बनी रहें। अपनी इस विधि के अनुसार वे समस्त भौतिक जगत, अपने शारीर की सत्ता में, ईश्वर की सत्ता में, भूत के अस्तित्व में, वैज्ञानिक एवं गणित के सत्यों में भी अपने विश्वास को स्थगित कर देते है। देकार्त कहते है ''अभी तक मैं जिसे सवर्था सत्य और निश्चियात्मक मानता आया हूँ, वह ज्ञान मुझे या तो इन्द्रियों से साक्षात् मिला है या इन्द्रियों के द्वारा किन्तु इन्द्रियों ने कई बार धोखा दिया है, और बुद्धिमानी इसी में है कि जो एक बार धोखा दे उसका पूरा विश्वास कभी नहीं किया जाय। .....''मेरा पुराना विश्वास रहा है कि ईश्वर है, उसने सृष्टि बनाई है, उसने मुझे उत्पन्न किया है। मैं यह कैसे मानू कि उन्होंने यह सृष्टि मुझे धोखा देने के लिये बनाई है? तब क्या मैं यह समझू कि यह कार्य शैतान का है? या यह सब मेरी ही कल्पना है?

इस प्रकार सन्देह की विधि के अन्तर्गत सब दृश्य पदार्थो को असत् मान लिया जाय, इनकों मात्र भ्रम कहा जाय, फिर भी यहॉ एक तत्व ऐसा है, जिस पर सन्देह का तनिक भी अवसर नहीं रहता और वह है– सन्देह की प्रक्रिया, हम सन्देह की क्रिया पर सन्देह नही कर सकते। जब क्रिया पर सन्देह नही संभव है तो क्रिया किसी कर्त्ता के बिना संभव ही नही। अतः सन्देह क्रिया के द्वारा सन्देह कर्त्ता का अस्तित्व स्वयं सिद्ध सत्ता के रूप में सिद्ध होता है। इसे देकार्त इस प्रकार कहते है ''मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ। (Cogito Ergo Sum) देकार्त के अनुसार मैं कुछ भी कहूँ, सोचूँ, विचारूँ, उन सब में मेरा अस्तित्व अन्तर्निहित है, अतः भली भॉति सोच लेने के बाद और प्रत्येक बात की सावधानी से परीक्षा कर लेने के बाद, मैं इस परिणाम पर पहुँचने और इस सत्य को मानने के लिये बाध्य हूँ कि ''मै हूँ मेरा अस्तित्व हैं।'' यदि हम अपनी सत्ता का निषेध ''मैं नही हूँ।'' कह कर करते है, तब भी निषेध से पूर्व मेरी सत्ता सिद्ध होती है। मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ। कथन में देकार्त सोचना या विचारणा का व्यापक अर्थ लेते है। विचारणा से अभिप्राय है–चेतन प्रक्रिया और 'मैं' से अभिप्राय चेतन तत्व से है।

इस प्रकार देकार्त की सन्देह पद्धति आत्मा के आगे समाप्त हो जाती है। यही स्वयं सिद्ध सत्ता है। इस पर सन्देह की कोई भी गुंजाइश नही। स्वयं सिद्ध सन्देह रहित अनिवार्य सत्य के रूप में आत्मा की सत्ता निगमन प्रणाली का निष्कर्ष नही है और न ही अनुमान द्वारा स्थापित, बल्कि निर्विकल्प अतिइन्द्रिय प्रत्यक्ष (सहज अनुभूति) (Sum Cogitaus) द्वारा सिद्ध है। इसी के द्वारा सभी प्रमाण कार्य करते है। देकार्त के दर्शन का आधार यही स्वयं सिद्ध सत्य है।

हमने देखा कि देकार्त किस प्रकार सन्देह विधि के द्वारा एक स्वयं सिद्ध सन्देह रहित अनिवार्य सत्य–आत्म तत्व की स्थापना करते है। इसी आत्म तत्व के द्वारा वे पुनः जगत और ईश्वर की सत्ता को भी सिद्ध करते है।

सर्वप्रथम स्वयं सिद्ध एवं निश्चयात्मक आत्मा की सत्ता के ज्ञान के द्वारा ईश्वर तत्व को सिद्ध करते है। देकार्त के अनुसार आत्मा में पूर्णता एवं अनंतता की एक धारणा है। इस धारणा का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार है कि इसके होने मात्र से ही इस धारणा के विषय (ईश्वर) की स्वतंत्र सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। अपूर्ण मनुष्य पूर्णता की धारणा का कारण नही हो सकता। पूर्णता और अस्तित्व में अनिवार्य संबंध है। ऐसा नही हो सकता पूर्णता हो किन्तु उसकी सत्ता या अस्तित्व न हो। ईश्वर ने ही पूर्णता की धारणा आत्मा में स्थित किया है।

दूसरी ओर देकार्त बाह्य जगत की सत्ता को ईश्वर की सत्ता द्वारा सिद्ध करते है। बुद्धिवादी होने के कारण देकार्त ये तो मानते है कि बुद्धि के स्पष्ट एवं परिस्पष्टता के मापदण्ड से अनेकता से पूर्ण एक बाध्य जगत का ज्ञान होता है किन्तु इससे जगत की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। वास्तव में देकार्त ने ईश्वर के संबंध में तीन गुणो को स्वीकार किया है– 1. ईश्वर कभी गलती नहीं करता 2. ईश्वर धोखा नहीं देता 3. ईश्वर दया निधान है– वह सदैव हमें सद्‌ज्ञान की ओर ले जाता है।

आत्मा को संवेदनाएं बाहर से प्राप्त होती है और से संवेदनाएं बाह्य जगत से आती है। यह जगत ईश्वर की रचना है इसलिये वह आत्मा में बाह्य जगत के अनुरूप संवेदनाऐं पैदा करता है। यदि ऐसी अनुरूपता नहीं होती तो फिर हमें ईश्वर को इसके लिये उत्तरदायी ठहराना होगा, ऐसी स्थिति में ईश्वर निश्चय ही दुष्टात्मा है, किन्तु ईश्वर दुष्टात्मा नही है, पूर्ण है, वह हमें धोखा नही दे सकता। अतः संवेदानाओं के आधार पर, उनके अनुरूप भौतिक जगत एवं भूतकाल की सत्ता में हमारा सहज स्वाभाविक विश्वास सत्य है, असत्य नही। हमारे इस सहज स्वाभाविक विश्वास की सत्यता साक्षी ईश्वर है। इस प्रकार बाध्य जगत आत्मा से स्वतंत्र द्रत्य है, जो आत्मा से पृथक एवं भिन्न है। आत्मा का गुण चितंन है। तो जगत का गुण विस्तार है।

इस प्रकार अपने सन्देह विधि से दर्शन का प्रारंभ कर देकार्त ने सर्वप्रथम स्वयं सिद्ध निश्चियात्मक आत्मा की सत्ता को सिद्धि किया, फिर निगमन प्रणाली के आधार पर ईश्वर एव जड़ जगत की सत्ता को सिद्ध किया। अतः सन्देह देकार्त दर्शन का प्रारंभ है अन्त नहीं है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. सद्‌गुण ही ज्ञान है, ज्ञान ही सद्‌गुण है, यह कथन है :–
   (अ) अरस्तू का (ब) सुकरात का
   (स) सोफिस्टों का (द) प्लेटो का
2. 'व्यक्ति ही हर वस्तु का मापदण्ड है,' सोफिस्टो के इन विचारों का सर्वप्रथम खण्डन किया।
   (अ) सुकरात का (ब) प्लेटो का
   (स) अरस्तू का (द) देकार्त का
3. निम्न में से किसने अपना दर्शन प्रश्नोत्तर पद्धति पर विकसित किया।
   (अ) सोफिस्टों का (ब) सुकरात का
   (स) अरस्तू का (द) प्लेटो का
4. पाश्चात्य नीति शास्त्र –
   (अ) विधायक विज्ञान है (ब) आदर्शमूलक विज्ञान है
   (स) कला है (द) व्यवहारिक विज्ञान है
5. 'प्रत्यय परम तत्व, जगत का सार है' विचार है
   (अ) अरस्तू के (ब) सुकरात के
   (स) प्लेटो के (द) देकार्त के
6. प्लेटो के मत में दृश्य जगत
   (अ) प्रत्यय जगत का अंश है
   (ब) प्रत्यय जगत की प्रति छाया/अनुकृति है।
   (स) प्रत्यय जगत से भिन्न वास्तविक सत्ता है।
   (द) प्रत्यय जगत का प्रतिबिम्ब है।
7. प्रत्येक वस्तु के चार कारण होते है विचार है
   (अ) सुकरात का (ब) प्लेटो का
   (स) सोफिस्टों का (द) अरस्तू का
8. अरस्तू ने चार कारणों को निम्न में से कौन से दो कारणों में सीमित किया।
   (अ) भौतिक कारण, निमित कारण
   (ब) आकार कारण और अन्तिम कारण
   (स) अन्तिम कारण और नीमित कारण
   (द) भौतिक कारण और आकार कारण
9. देकार्त अपनी सन्देह विधि से किस निष्कर्ष पर पहुँचे –
   (अ) मैं सोचता हूँ इसलिये जगत है
   (ब) मैं सोचता हूँ इसलिये ईश्वर है
   (स) मै सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ
   (द) मै सोचता हूँ इसलिये चेतना है
10. देकार्त के अनुसार आत्मा का अस्तित्व
    (अ) स्वतः सिद्ध है (ब) निगमनात्मक है
    (स) आगमनात्मक है (द) प्रमाण जन्म है

अति लघू उत्तरात्मक प्रश्न

1. तत्वमीमांसा
2. ज्ञानमीमांसा
3. नितिशास्त्र
4. एकतत्ववाद
5. विज्ञानवाद
6. बुद्धिवाद
7. अनुभववाद
8. द्वन्दात्मक पद्धति
9. प्रत्यय जगत
10. भौतिक कारण

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. सुकरात ने सोफिस्टो के मत का खण्डन कैसे किया?
2. प्लेटो के दर्शन में इन्द्रिय जगत का स्वरूप क्या हैं?
3. अरस्तू ने अपने कारणता सिद्धान्त द्वारा कौनसी समस्या का समाधान किया?
4. 'ज्ञान मत नही है' प्लेटो के इस विचार को स्पष्ट कीजिए।
5. दर्शन का जीवन में क्या महत्व है?
6. अरस्तू द्वारा प्रतिपादित चार कारणों को समझाइये।
7. देकार्त की सन्देह विधि को समझाइये।
8. देकार्त को आधुनिक पाश्चात्य जगत का पिता क्यों कहते है?
9. प्लेटो के अनुसार ज्ञान के प्रज्ञा स्तर को समझाइये।
10. देकार्ते की दार्शनिक समस्या क्या थी? स्पष्ट करें।
11. देकार्त ने आत्मा की सिद्धि, सन्देह–विधि से किस प्रकार किया? समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. दर्शन के अध्ययन क्षेत्र की व्याख्या कीजिये।
2. प्लेटो के प्रत्ययवाद की व्याख्या कीजिये।
3. अरस्तू के कारणता संबंधी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।
4. देकार्त के दार्शनिक विधि की विशेषताओं के समझाइये।

बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

1. ब 2. अ 3. ब 4. ब 5. स 6. स
7. ब 8. द 9. स 10. अ